• त्रयोदश-निधि •

भगवत् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु उपदिष्ट
सर्वश्रीरूप-सनातन-जीव आदि षड्गोस्वामी पोषित
श्रीबलदेव विद्याभूषण कृत गोविन्दभाष्य वर्णित

अचिन्त्यभेदाभेदवाद : गौड़ीय सम्प्रदाय

परिचय—श्रीराधाकृष्ण मिलित तनु, अन्तःकृष्ण बहिर्गौर, आश्रय-जातीय प्रेम का आस्वादन करने के लिए राधाभावद्युति-सुबलित होकर श्रीकृष्णचन्द्र का ही श्रीचैतन्य देव के रूप में आविर्भाव पश्चिम बंग के नदिया (नवद्वीप) नगर में श्रीजगन्नाथ मिश्र पुरंदर (पिता) एवं श्रीशचीदेवी (माता) द्वारा विक्रम संवत् 1542 वि. फाल्गुन शु. 15 (चन्द्रग्रहण) के अवसर पर हुआ। अवतार का सामान्यप्रयोजन कलियुग के धर्म 'हरिनाम' का प्रचार था, परन्तु मुख्यप्रयोजन रागानुगामार्ग की भक्ति, मुख्यतः मंजरी-भाव (भावोल्लासा) का उन्मुक्त वितरण करना था। इनके जन्म के पूर्व 8

कन्याओं (बहिनों) एवं विश्वरूप (सं. 1530) बड़े भाई (एकमात्र जीवित संतान) का शचीदेवी के गर्भ से जन्म हो चुका था। विश्वरूप ने किशोरवय: में ही संन्यासग्रहण कर लिया। अनेक चमत्कारपूर्ण बाल्यलीलाओं के बाद श्रीविश्वम्भर 'निमाई' (संन्यास का नाम- श्रीकृष्णचैतन्य) की शिक्षा नवद्वीप में ही श्रीगंगादास पण्डित की पाठशाला में हुई। बाद में उन्होंने वहीं अध्यापनकार्य भी किया। उन्होंने पिता के परमपद (सं. 1559 वि.) होने के बाद सं. 1562 में गयाधाम गमन किया। एवं वहां श्रीईश्वर पुरी जी द्वारा दशाक्षर 'गोपालमंत्र' की दीक्षा ग्रहण की। शास्त्रार्थ विद्यामद में उद्धत निमाई-पण्डित इसके बाद तो अत्यन्त भक्त एवं विनम्र हो गए। श्रीनिमाई- पंडित के लक्ष्मीप्रिया एवं विष्णुप्रिया के साथ क्रमश: 1559 वि. एवं 1561 वि. में दो विवाह हुए। पूर्वबंगाल (ढाका) में कुछ दिनों 1560 वि. अध्यापन करने के बाद श्रीनित्यानन्द एवं हरिदास, अद्वैताचार्य, गदाधर पण्डित, स्वरूप-दामोदर आदि अनेक सहयोगियों के साथ नदिया में हरिनाम संकीर्तन का प्रचार कर उन्होंने काजी, जगाई मधाई आदि का उद्धार किया।

चौबीस वर्ष की अवस्था में श्रीकेशव भारती जी से 1566 वि. में संन्यास ग्रहण कर वे जगन्नाथपुरी गये। सं. 1567 से 1569 तक दक्षिण के तीर्थों में भ्रमण किया। फिर बंगप्रान्त तक की ही वृन्दावन यात्रा 1571 वि. में की। उनकी मुख्य वृन्दावनयात्रा 1572 वि. में सम्पादित हुई। इसी प्रसंग में लौटते समय श्रीरूप-सनातन पर कृपा की। इस प्रकार ये छ: वर्ष तीर्थभ्रमण में व्यतीत हुए, जिसे '**मध्यलीला**' कहा जाता है। शेष 18 वर्षों तक वे स्थायीरूप से जगन्नाथपुरी में ही रहे। इस कालखण्ड में (सं. 1572 से 1589 वि. में उनका 'उन्मादिनी श्रीराधाभाव' गंभीरा (पुरी) में प्रकट हुआ। उनके प्रिय परिकरों में वृन्दावन के छ: गोस्वामी-(सनातन, रूप, रघुनाथभट्ट, रघुनाथदास, गोपालभट्ट, जीवगोस्वामी) सभी महान् पण्डित कवि एवं रसिकवर रहे। श्रीचैतन्यदेव के अनुगतों द्वारा विपुल एवं महत्त्वपूर्ण संस्कृत बांगला एवं ब्रजभाषा साहित्य का सृजन किया गया। इन्हीं आचार्यों ने '**अचिन्त्य भेदाभेदवाद**' की स्थापना की। उनके व्यक्तित्व ने श्रीसार्वभौम भट्टाचार्य, श्रीप्रकाशानन्द, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीरायरामानन्द जैसे शलाका-पुरुषों को भी

प्रभावित किया। वि.सं. 1589 में वे 48 वर्ष की प्रकट लीला के बाद अन्तर्धान हुए।

श्रीचैतन्यदेव (सं. 1542-1589 वि.) ने विभिन्न संवादों में यह स्थापित किया कि परतत्त्व सशक्तिक है एवं अपनी कूटस्थ-स्थिति में भी वह गुण एवं क्रिया का प्रकाशन करने में समर्थ है। उसकी शक्तियां स्वाभाविक हैं एवं वे उस शक्तिमान् के आश्रित है। शक्तियां शक्तिमान् से नित्य भेद-अभेद प्राप्त किए हुए प्रकाशित होती रहती हैं। श्रीमद्‌भागवत में श्रीव्यासदेव ने भी समाधि में शक्तिमान् से शक्तियों के भेद का ही दर्शन किया था।[1] इसी आधार पर **श्रीजीवगोस्वामी** (सं. 1568-1653 वि.) श्रीसनातन गोस्वामी (1555-1620 वि.) **एवं बलदेव विद्याभूषण** (गोविन्दभाष्य) (1775 वि.), **श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती** (सारार्थदर्शिनी) (1761 वि.), **श्रीकृष्णदास कविराज** (1585-1672 वि.) आदि ने '**अचिन्त्यभेदाभेदवाद**' की स्थापना की।

अचिन्त्य का स्वरूप– श्रीजीवगोस्वामी ने सर्वसंवादिनी में अचिन्त्य-भेदाभेद का स्वरूप सुस्पष्टरूपमें इसप्रकार वर्णन किया। 'स्वरूप से शक्ति को अभिन्न नहीं माना जा सकता (क्योंकि भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है)। शक्ति को भिन्न रूप में भी विचार नहीं किया जा सकता (क्योंकि शक्ति सर्वदा शक्तिमान् के आश्रित है), अत: अभेद भी प्रतीत होता है। फलत: शक्ति-शक्तिमान् में भेद एवं अभेद दोनों ही स्वीकार किया जाता है।

शास्त्रैकवेद्य वे दोनों ही अचिन्त्य हैं। कुछ विद्वान् 'तर्क की अप्रतिष्ठा ही शास्त्र में वर्णित है (ब्र.सू. 5.6.11)' इस हेतु (तर्क) के आधार पर यह विचार करते हैं कि-क्योंकि भेद मानने पर भी दोष समूह दीखता है; एवं अभेद मानने पर भी दोष समूह दिखता ही है। अत: शक्ति को शक्तिमान् से पूर्णत: भिन्न सिद्ध नहीं किया जा सकता। फलत: उन दोनों में अभेद सिद्ध होता है। इसी प्रकार वे दोनों (शक्ति शक्तिमान्) अभिन्न रूप में भी सिद्ध नहीं किये जा सकते, फलत: 'भेद' भी साधित होता है। इसी असमंजस की स्थिति में विमूढ़ होकर उन शक्ति-शक्तिमान् में 'अचिन्त्य-भेदाभेद' स्वीकार कर लेना चाहिए। परन्तु यह एक 'मतिविभ्रम' एवं विवशता की स्थिति होगी। 'विमूढ़ता' प्रमाण नहीं हो सकती। अत: उसकी अपेक्षा शास्त्रैकवेद्यता

के आधार पर शक्ति-शक्तिमान् में 'अचिन्त्य-भेदाभेद' मानना ही अधिक उपयुक्त है।

यहां श्रीजीव गोस्वामी का अपना मत यह है कि-सभी (लौकिक-अलौकिक शक्तिमान् पदार्थ सर्वदा 'अचिन्त्य-शक्तिमय' ही होते हैं। अत: शक्ति शक्तिमान् के मध्य सर्वदा 'अचिन्त्य-भेदाभेद सम्बन्ध, मानना ही उपयुक्त है।' (जीवगोस्वामी)।[2]

यह तथ्य केवल चिन्मय परतत्त्वगत ही नहीं है, बल्कि जितने भी भाव पदार्थ हैं, उन सभी में भी शक्ति-शक्तिमान् के मध्य 'अचिन्त्य-भेदाभेद-सम्बन्ध' एवं स्वरूप दिखता है। जैसे अग्नि एवं ताप; कस्तूरी एवं गंध आदि में। फिर ब्रह्म की स्वरूपा, तटस्था, बहिरंगा शक्तियां तो अचिन्त्य होंगी ही। इनमें अधिसंख्य प्राकृत पदार्थों एवं उनकी शक्तियों के 'भेदाभेद' को तो तर्क द्वारा कुछ-कुछ अनुभव भी किया जा सकता है; परन्तु प्राकृत- पदार्थों में भी कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो सर्वथा अचिन्त्य ही हैं—जैसे मणि- मंत्र-औषधि। ऐसे भावपदार्थ 'अचिन्त्य' हैं, उन्हें तर्क से नहीं जोड़ना चाहिए। अत: सर्वथा अलौकिक श्रीकृष्ण की शक्तियों को तो शास्त्र के आधार पर ही अचिन्त्य मानना उपयुक्त होगा। विमूढ़तया विवशता के आधार पर अचिन्त्य कहना उचित नहीं। अत: अचिन्त्य का मुख्य अर्थ- शास्त्रैकवेद्यता है।

गौतम (न्याय) कणाद (वैशषिक) जैमिनी (पूर्वमीमांसा) कपिल (सांख्य) पतंजलि (योग) भेदवादी दर्शन हैं। श्रीरामानुज (विशिष्टाद्वैत) बादर-पौराणिक, शैव जैसे दर्शन भेदाभेद का ही प्रतिपादन करते हैं। श्रीमध्वाचार्य तो स्पष्टत: 'द्वैतवाद' के प्रतिष्ठापक हैं। गौड़ीय वैष्णवों के स्वमत में ब्रह्म स्वत: ही अचिन्त्य-शक्ति युक्त है। उसे 'निर्गुण' या केवल-अद्वैत मानने की अपेक्षा शक्तियुक्त मानना; एवं शक्तियों का शक्तिमान् से भेद स्वीकार करना ही (अचिन्त्य भेदाभेद) विचार की दृष्टि से युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

शक्ति की स्वाभाविकता एवं सिद्धि

निर्विशेष-वादियों का यह विचार है कि-कूटस्थ स्थिति में ब्रह्म निर्गुण (सत्त्वादि गुण रहित), अप्रमेय (देश काल परिच्छेद रहित), शुद्ध (देहादि

उपाधि शून्य) तथा संस्कार (कृपा रागादि) शून्य है। ऐसा निर्गुण-निष्क्रिय ब्रह्म सृष्टि एवं लीला नहीं कर सकता। इसके उत्तर में वैष्णवों का मत है कि केवल अप्राकृत ही नहीं, मणि-मंत्र-औषधि जैसे प्राकृत-भावपदार्थों में भी जब 'अचिन्त्यज्ञानगोचरता' का गुण प्राप्त होता है, तब ब्रह्म का क्या कहना ?[3] **अचिन्त्यता का अर्थ है** 'तर्क—असहिष्णुता' एवं **'ज्ञान- गोचरता' का अर्थ** है 'अर्थापत्ति' आदि प्रमाण-वेद्यता। अर्थात् कार्य कभी भी कारण के अभाव में सिद्ध हो ही नहीं सकता था। अत: 'कार्यान्यथानुपपत्ति' से कारण को उपपन्न मान लेना चाहिए। अत: शक्ति 'अचिन्त्यज्ञानगोचरा' हुई। अचिन्त्य पदार्थों को तर्क से नहीं जोड़ना चाहिए।[4]

उदाहरणार्थ जगत् कार्य तो प्रत्यक्ष है। जगत् सृष्टि आदि को देखकर उसकी कारण 'माया' की 'शक्तिरूपता' की भी सिद्धि हो जावेगी। ब्रह्म में जगत्सृष्टि आदि की सामर्थ्य है। ऐसी शक्ति के बिना सृष्टि हो ही नहीं सकती थी। अत: अर्थापत्ति के द्वारा 'शक्तियों की भी सिद्धि' हो जाती है। एवं इसी अर्थापत्ति से शक्तिमान् 'ब्रह्म की भी सिद्धि' हो जाती है। ब्रह्म की अचिन्त्यज्ञानगोचरा शक्तियाँ तीन हैं—1. अंतरंगा, 2. तटस्था, 3. बहिरंगा। ये सभी स्वाभाविक हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार भी यह बात सिद्ध होती है।[5] युक्तियों में भी ब्रह्म कार्य-कारण से परे है एवं असमोर्ध्व अमायिक (परा) विविध-शक्तियों से युक्त है। वे शक्तियां स्वाभाविक हैं। अत: ब्रह्म की अव्ययरूपता में बाधा नहीं आती है।[6] वे शक्तियां ज्ञान (चित्), बल (सत्), एवं क्रिया (आनन्द) भेद से विविध प्रकार वाली हैं। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्। (श्वेता 4.10)'। ब्रह्म निरंकुश ऐश्वर्य वाला है। अचिन्त्यशक्तिमान् तत्त्व ही सर्वदा कार्योन्मुख होकर शक्तिभेद से प्रकट होता है।[7]

भगवत् संदर्भ के अनुसार—

अत्रेयं प्रक्रिया-एकमेव तत् परमं तत्त्वं स्वाभाविक-अचिन्त्यशक्त्या सर्वदैव स्वरूप-तद्रूपवैभव-जीव-प्रधानरूपेण चतुर्द्धा अवतिष्ठते। सूर्यान्त-र्मण्डलस्थ तेज इव, मण्डल, तद्बहिर्गत रश्मि, तत् प्रतिच्छविरूपेण॥—भगवत् सन्दर्भ (श्रीजीवगोस्वामी) प्रकरण 16 पृष्ठ 63।

अचिन्त्य का अर्थ है—तर्क को सहन न करना। अर्थात् भिन्न-अभिन्नत्वादि विकल्प होने के कारण ब्रह्म एवं शक्तियां दोनों ही 'तर्क द्वारा असिद्ध' नहीं हो सकती हैं। 'अचिन्त्य' का विस्तार ही 1. अविकृत-परिणाम। 2. विरुद्धधर्माश्रयता (4.9.16) (6.4.21)। 3. शास्त्रैक वेद्यता। 4. कर्तुम्-अकर्तुम् अन्यथाकर्तुंसर्वसामर्थ्य (दुर्घट घटकत्व)। 5. अभिन्न निमित्तोपादानता आदि हैं। अचिन्त्यता (तर्कासहत्व) के आधार पर कभी भी ब्रह्म 'अप्रामाणिक' सिद्ध नहीं होता। तथापि-ब्रह्म में प्राकृतता, देह-गुण-क्रिया तो है नहीं। क्योंकि ये ही किसी वस्तु की ज्ञापक होती हैं, ये सभी ब्रह्म में हैं। "अतः ब्रह्म का अप्रामाण्य है"- ऐसा नहीं माना जा सकता। 'श्रुतेस्तु शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र.सू.) के अनुसार वह एवं उसकी शक्तियां शास्त्रैकवेद्य हैं। यही 'शास्त्रैक वेद्यता' अचिन्त्य का मुख्य अर्थ होगा।

अचिन्त्य शक्ति के भेद—अखण्ड 'एक तत्त्व' होने पर भी वह परतत्त्व अपनी अचिन्त्य शक्ति से 1. स्वरूप (ब्रह्म-परमात्मा-भगवान्), 2. तद्रूप वैभव (नाम धाम रूप लीला परिकर), 3. जीव एवं 4. प्रधान (त्रिगुण) इन चार रूपों में स्थित माना गया है। जैसे सूर्य का 1. तेज, 2. मंडल, 3. रश्मि एवं 4. प्रतिच्छवि। यहां इस प्रतिच्छवि के दो कार्य होते है। 1. जीवविमोह (माया) एवं 2. वर्ण शावल्य (प्रधान)। ब्रह्म इन्हीं चार रूपों में प्रकाशित होता है।

एकदेश स्थितस्याग्नेः ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा।
परस्य ब्रह्मणः शक्ति तथेदम् अखिलं जगत्॥

—विष्णुपुराण 1.22.54

ध्यातव्य है कि भगवान् की 'स्वरूपशक्ति' सर्वाधिक प्रभावशालिनी है। अतः उसकी अचिन्त्यशक्ति के कारण स्वरूप एवं तद्रूप वैभव में भी चिद्रूपता एवं निर्विकारता अक्षुण्ण बनी रहती है, परन्तु दूसरी शक्ति तटस्था (जीव) में अणु चिद्रूपता होने पर भी जड़त्व एवं विकारित्व का कदाचित् अध्यास आ जाता है। तीसरी शक्ति माया (जगत्) में तो विकारों की नित्यता प्राप्त होती है—क्योंकि जगत् तो बहिरंगा ही परिणाम है। अतः शक्तियों का ब्रह्म से साम्य एकांशी है, सर्वात्मना नहीं है। यह 'तत्तत् स्थानीयसाम्य' ही है; सम्पूर्ण नहीं। इसीलिए माया के दोष भगवान् तक नहीं पहुँच पाते।[8]

ब्रह्म की सविशेषता—भेदसहिष्णु-अभेद को 'विशेष' कहते हैं। ब्रह्म सविशेष है। श्रुतियों के 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किंचन' इत्यादि वचनों के आधार पर यह प्रश्न उठता है कि निर्गुण, तर्कातीत, शुद्ध, अमलात्मा, ब्रह्म द्वारा सृष्टि इत्यादि कर्म कैसे किए जा सकते हैं? अतः सृष्टि कार्य को केवल 'शक्ति तादात्म्यापन्न' ब्रह्म द्वारा ही सम्भव मात्र माना जाय। इस पर वैष्णवों का विचार है कि—ब्रह्म को गुण-क्रिया हीन मान लेने पर, तथा ब्रह्म के स्वरूपतः (निर्विशेष मानने पर) उसकी व्यापकता एवं विभुता को सीमित करने का दोष आ जावेगा। अतः निर्विशेषता का परिहार कर उसे सविशेष ही मानना चाहिए; एवं शक्तिमान् से शक्ति के भेद एवं अभेद दोनों स्वीकार करना चाहिए।

तथापि कभी-कभी वस्तुओं की स्वाभाविक शक्तियों को बाधित देखा जाता है जैसे अग्निसंयोग से जल की शीतलता बाधित हो जाती है। इसी प्रकार वस्तुओं की प्राकृतशक्तियों को तो मणि-मंत्र-औषधलेप के प्रभाव से पराभूत भी किया जा सकता है। परन्तु ब्रह्म की स्वाभाविक अचिन्त्य शक्तियों को नहीं। तब निर्गुण अप्रमेय आदि की व्याख्या निम्न प्रकार से करनी होगी।[9] यथा—

निर्गुण—का अर्थ ब्रह्म में गुण क्रिया हीनता नहीं, बल्कि निखिलगुण से युक्त होना ही है। ऐसा होने पर भी 'सृष्टि' आदि कार्यों में ब्रह्म का कोई निजी स्वार्थ या आवेश नहीं मानना चाहिए, बल्कि सारी सृष्टि जीवकल्याणार्थ ही है। ब्रह्म तो निस्वार्थ होकर जीव कल्याण के लिए अपनी स्वाभाविकी बहिरंगा मायाशक्ति द्वारा सृष्टि आदि करा देता है। अतः सृष्टि के दोष ब्रह्म को नहीं लगते, वे दोष माया में ही रह जाते हैं। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (त. 1. 1.3)' के अनुसार ब्रह्म कर्ता भी है, फिर भी माया से अस्पृष्ट है।

अप्रमेय—ब्रह्म प्राकृत गुण-क्रिया हीन होने के कारण 'प्रमाण अगोचर' नहीं माना जा सकता है। 'शास्त्र योनित्वात्। (ब्र.सू.1.3)' के अनुसार ब्रह्म शब्द प्रमाण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण द्वारा अप्रमेय ही है। ब्रह्म वेद एवं तद्वत् चिन्मय आप्त-वाणी द्वारा वेद्य है। हां उसका 'इदमित्थं' समग्र वर्णन वेदों द्वारा भी नहीं किया जा सकता है। कारण 'यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि वचनों की संगति अप्रमेयता में ही है।

'**शुद्धस्य**'—का अर्थ भी उपाधि (देह) देहहीन या 'केवल' मानना उचित नहीं है। भगवत् तत्त्व में देह-देही विभाग नहीं है। शुद्ध का अर्थ 'केवल' मानने पर लगता है कि जैसे ब्रह्म में शक्तियां ही नहीं हों! परन्तु ऐसा नहीं है। तत्त्वतः अचिन्त्य स्वरूपशक्ति इतनी प्रभावशालिनी है कि उसके आगे अन्य (जीव-जगत्)—जैसी शक्तियों की अणुता मलिनता आदि के दोष ब्रह्म को नहीं लगते हैं। अतः वह 'शुद्ध' बना रहता है। शास्त्रों में वर्णित उसका मध्यम आकार भी ब्रह्म परमात्मा रूपात्मक ही है। जो समय-समय पर दृश्य होती रहती है।

अमलात्मा—कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि स्फटिकमणि की तरह वह स्वरूपतः तो निर्मल है परन्तु निकट की छाया के कारण वह लाल नीलिमा गुणयुक्त दीखता है। तत्त्वतः ब्रह्म बहिरंग शक्तियों से सर्वदा अस्पृष्ट एवं अपराजित ही रहता है। स्वरूपभूत गुण तो उसमें नित्य हैं।[10]

ब्रह्म एवं भ्रम (जगत्)

इस प्रकार अन्तरंग-बहिरंग-तटस्थ इन सारी शक्तियों से मिलकर 'भगवान् चिद्चित् शक्तियुक्त है, यह सिद्ध होता है।[11] यहाँ तक कि बहिरंगामाया भी उनकी स्वाभाविकी शक्ति है।

'माया' का अर्थ अज्ञान मात्र नहीं है बल्कि विचित्र अर्थों (कार्यों) का निर्माण करने वाली शक्ति है—"मीयते विचित्रं निर्मीयतेऽनया इति माया। (डुमाङ् क्षेपणे)।"

केवलाद्वैतवाद में अज्ञान (भ्रम) के द्वारा ही 'जीव जगत्' रूप द्वैत की कल्पना ब्रह्म में कर ली जाती है। जीवगोस्वामी के अनुसार ऐसी कल्पना उचित नहीं। क्योंकि (क) ब्रह्म अहंकार रहित है, अतः वह किसी भी प्रकार के अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता। वह सच्चिदानन्द है। किसी अन्य धर्म (अज्ञान) से रहित सर्व विलक्षण है। (ख) वह अज्ञान का विषय (अज्ञान) भी नहीं हो सकता, तथा (ग) चिन्मात्र होने के कारण वह स्वयं अज्ञान का हेतु (कारण) भी नहीं हो सकता। फलतः वह 'अचिन्त्यशक्तियुक्त' नित्य पदार्थ है। अतः जगत् भी भ्रम नहीं है।

जगत् अविकृत परिणाम एवं ब्रह्म की विरुद्धगुणाश्रयता

जैसे मन्त्र चिन्तामणि कल्पवृक्षों आदि में 'अविकृत परिणामता' का गुण विराजमान है। अथवा जैसे त्रिदोष (सन्निपात) रोग शांत करने वाली औषधि में परस्पर विरोधी कफ-पित्त-बात गुणों को शान्त करने की 'विरुद्ध धर्माश्रयशक्ति' विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्म में अविकृतपरिणाम, विरुद्ध धर्माश्रयता आदि शक्तियाँ हैं। (दामोदर लीला में विभुता परिच्छिन्नता, मृद्भक्षण में सर्वाश्रयता श्रीकृष्ण में देखी जाती है।) जब प्राकृत वस्तुओं में ही- अविकृत परिणाम, विरुद्ध धर्माश्रयता एवं अचिन्त्यता देखी जा सकती है तब ब्रह्म में अचिन्त्यता हो, यह कौन आश्चर्य की बात होगी।

द्वैत तो दृश्यमान एवं अपरिहार्य है। इसी द्वैत प्रतीति की संगति के लिए केवलाद्वैतवादी को अर्थापत्ति द्वारा 'भ्रम' की कल्पना करने की आवश्यकता होती है। परन्तु वैष्णवों के मत में यदि ब्रह्म में 'अचिन्त्य' नामक एक महा-शक्ति मान ली जाय तो द्वैतान्यर्थानुपत्ति रूप अर्थापत्ति से अज्ञान भ्रम की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। अचिन्त्यशक्ति युक्तता के प्रभाव से ब्रह्म सृष्टिकार्य में आवेश एवं प्रयासरहित होने पर भी जगत् का कर्ता (निमित्त कारण) हो जाता है। एवं स्वयं अविकारी होते हुए भी जगत् का 'शक्ति परिणाम' से उपादान कारण भी बन जाता है। इसमें युक्ति एवं श्रुति दोनों ही प्राप्त हैं। युक्ति यह कि—जैसे चुम्बक स्वयं निश्चेष्ट होकर भी लोहे को चंचल बना देता है एवं चिन्तामणि 'अविकृत' रहकर भी स्वर्णप्रसव कर देती है। अर्थात् इसी प्रकार ब्रह्म अविकृत रहकर भी सत्य जगत् का कारण भी है एवं कर्ता भी दोनों है। कार्य जगत् भी असत्य भ्रम नहीं है। 'अचिन्त्य-शक्ति' द्वारा दृश्यमान भेद (जगत्) 'सत्य' सिद्ध हो जाता है।[13] 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। (तैत्त. 3.1.1)'। श्रुति तो ब्रह्म को जगत् का कर्ता बताती हैं।

प्रधान माया : शक्ति परिणामवाद

यहाँ प्रश्न उठता है यदि ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्त-उपादान कारण है (जैसे मकड़ी जाले का), तो वह अविकारी कैसे हो सकता है? उत्तर है—उसे अचिन्त्यशक्तियुक्त मानने पर 'शक्ति-परिणाम' के द्वारा उसकी

अविकारिता एवं अद्वयता दोनों की रक्षा हो जाती है। ब्रह्म स्वयं तो अपरिणत (अविकारी) एवं सत्मात्र रहता है, परन्तु मायाशक्ति जो उसी की व्यूह (वैभव) रूपा है, ब्रह्म इसी मायाशक्ति से 'द्रव्य' संज्ञा धारण कर जगत् की रचना करा देता है। वह जगत् रूप में उसी प्रकार परिणत हो जाता है जैसे चिन्तामणि स्वयं तो अविकृत रहती है, परन्तु अपनी व्यूहरूपाशक्ति के द्वारा स्वर्ण को प्रसव कर देती है। 'व्यूह' के कार्य को भी शक्तिमान् के कार्य के रूप में ही जाना जाता है। जैसे किसी वीर सेनापति की विजय 'राजा की विजय' कहलाती है। अत: ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कह दिया जाता है, जो उचित ही है।[14]

'जगत् मायिक है भगवान् नहीं—भगवान् स्वमाया से विश्व बनते हैं।' इस उक्ति से यही प्रतिपादित हुआ कि जगत् (विश्वरूप) ही मायिक है न कि स्वयं भगवान्। जैसे कभी पुरंजय (अपरनाम ककुस्थ या इन्द्रवाह) के आग्रह से इन्द्रदेव माया द्वारा उनका वाहन (बैल) बना। तब इन्द्रवाह पुरंजय ने असुरों को पराजित किया (देखें श्रीमद्भागवत नवमस्कन्ध षष्ठ अध्याय)। 'इन्द्रो मायया वृषभो भवति'। यहां वृषभरूपता माया की ही है; इन्द्र तो स्वरूपभूत ही बना रहा। इसी प्रकार जगत् एवं भगवान् का 'विश्वरूप' ही मायिक हुआ; स्वरूपभूत षडैश्वर्ययुक्त भगवान् नहीं। इसी आधार पर भगवान् की विराट्रूप में स्थूल उपासना को भी 'मायिक' कहा गया है। एवं विराट्रूप की गणना भी चौबीस अवतारों में नहीं की गई। इससे यह मत भी निरस्त हो जाता है कि मायिक होने के कारण भगवान् परतत्त्व का 'तटस्थ लक्षण' हैं एवं निर्विशेष निराकार 'ब्रह्म' ही स्वरूपलक्षण हैं।[15] जगत् के साथ परमात्मा का अभिन्न संसर्ग कभी नहीं है। जबकि वैकुण्ठादि भगवान् के साक्षात्भाव (स्वरूप शक्ति) द्वारा निर्मित है।

शक्ति-शक्तिमान् में अभेद—ब्रह्म ही जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण है। वही दृश्यरूप में 'प्रकृति' आधार रूप में 'पुरुष' (संकर्षण), एवं जगत् कार्य को अभिव्यक्त करने वाले (त्रिगुण प्रेरक) घटक के रूप में 'काल' है। वह ब्रह्म (श्रीकृष्ण) ही है। ये तीनों वस्तुऐं (प्रकृति, पुरुष, काल) ब्रह्म से अभिन्न हैं। स्वरूप ही कार्योन्मुख होने पर 'शक्ति' कहलाता है।

प्रकृतिः हि अस्योपादानं आधारः पुरुषः परः।
सतः अभिव्यंजकः कालः ब्रह्म तत् त्रितयं त्वहम्॥

—श्रीभागवत 11.24.18

शक्ति शक्तिमान् के इसी अभेदत्व के आधार पर ब्रह्म को 'अभिन्न निमित्तोपादान' कहा गया है। शक्तिविशिष्ट रूप में परमात्मा उपादानकारण है एवं 'केवल' रूप में 'निमित्त'। यहां ध्यान देना चाहिए कि शक्ति का अस्तित्व शक्तिमान् से अलग नहीं हो सकता है। अतः 'शक्ति' शक्तिमान् से अभिन्न है। सत्कार्यवादी वैष्णवगण यह मानते हैं कि कारण में (बीज में) अपने धर्मविशेष को (वृक्ष को) प्रकट करने की सामर्थ्य है। अतः कारण ही विकास को प्राप्त कर कार्य बन जाता है। इस दृष्टि में कार्य अपने कारण से अलग नहीं है (अनन्य) है। परन्तु कारण कार्य से अलग भी रह सकता है।[16]

जीव—जीव ब्रह्म की तटस्थाशक्ति है, जो अचिन्त्य नामक शक्ति का एक 'व्यूह' है। उसका ब्रह्म से सम्बन्ध अचिन्त्य ही है। चिन्मात्र ब्रह्म द्वारा सृष्टि कार्य, सच्चिदानन्द जीव का कार्पण्य एवं बंधन, चिच्छक्ति के प्रभाव से जीव की मुक्ति, मायातीत भगवान् का अवतार एवं लोकवत् लीलाऐं आदि अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर 'अचिन्त्यता' में निहित है। श्रुतियां सर्व भेद-अभेद का वर्णन करने के बाद 'नेति-नेति' रूप में अतन्निरसन वृत्ति से भगवान् को ही उपास्य बतलाती हैं। ईश-भक्ति में ही 'अचिन्त्यता' की पराकाष्ठा है।

निष्कर्षतः ब्रह्म सविशेष अचिन्त्य (तर्कासह, एवं श्रुतिवेद्य) शक्तियों से युक्त है। ये शक्तियाँ तीन हैं- अन्तरंगा-तटस्था एवं बहिरंगा। ये सभी शक्तियाँ ब्रह्म की स्वाभाविक शक्तियां है, आगन्तुक नहीं। शक्ति की सिद्धि 'अर्थापत्ति' से भी होती है। शक्ति-शक्तिमान् में 'अचिन्त्य-भेदाभेद' मानने पर ब्रह्म को 'अद्वय ज्ञान तत्त्व' रूप में उपास्य मानने में कोई विरोध नहीं आता। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने पर भी ब्रह्म से शक्तियों का स्थानीय साम्य मात्र रहता है; सर्वात्मता साम्य नहीं। अतः भगवान् ही परमउपास्य सिद्ध होते हैं, जीव या जगत् कभी भी उपास्य नहीं हो सकते।

जगत्—शक्तिपरिणाम द्वारा जगत् की सृष्टि आदि होती है अतः जगत् 'भ्रम' या असत् नहीं है। बल्कि वह 'सत्' है। परन्तु है परिणामी। ब्रह्म के

विरुद्ध-धर्माश्रयता नामक गुण के कारण गुणमाया ईश्वर को कभी मोहित नहीं करती (मायावी की माया दर्शक का दृष्टिबन्ध करती है मायावी का नहीं) अविकृतपरिणाम होने से ब्रह्म ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान है, तथापि वह स्वयं अविकारी रहता है। इस प्रकार शक्ति शक्तिमान् में 'अचिन्त्य-भेदाभेद' की धारणा स्वीकृत कर लेने पर प्राय: सभी प्रश्नों एवं दार्शनिक-गुत्थियों का समाधान हो जाता है।

क्योंकि इतिहासक्रम में 'अचिन्त्य-भेदाभेदवाद' सर्वाधिक परवर्ती है अत: पूर्व के दार्शनिक सिद्धान्तों में छूटे हुए अनुत्तरित प्रश्नों का वह प्राय: समग्र समाधान प्रस्तुत कर देता है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्त का सार इस प्रकार समझना चाहिए—सम्बन्ध (विषय) तत्त्व श्रीब्रजेन्द्रनन्दन हैं। रागानुगा उपासना मुख्य अभिधेय है (जिसका अलग से श्रीमद्भागवत के भाग सात के परिशिष्ट में वर्णन किया जा चुका है।) एवं प्रेम ही प्रयोजन है। यह कृपा द्वारा ही सुलभ हो सकता है। श्रीमद्भागवत इस साधन पद्धति के प्रमुख प्रमाण हैं—

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनय: तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्य महाप्रभो: मतमिदं तत्राग्रहो नापर:॥

(श्रीब्रजेन्द्रनन्दन कृष्ण ही श्रीचैतन्य महाप्रभु के मत में आराध्य हैं। उनका धाम वृन्दावन है। जिस उपासना को ब्रजगोपिकाओं ने किया वही सबसे रम्य अद्भुत उपासना है। श्रीमद्भागवत ही अमल प्रमाण हैं। प्रेम ही महान् पुरुषार्थ है। यही श्रीचैतन्य महाप्रभु का मत है, वही हमारा आग्रह है कहीं अन्य नहीं।

टिप्पणियाँ / सन्दर्भ—

1. भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदपाश्रयाम्।
यया संमोहितो जीवः आत्मानं त्रिगुणात्मकम्
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत् कृतं चाभिपद्यते॥
—श्रीमद्भागवत 1.7.4-5

2. तस्मात् स्वरूपात् अभिन्नत्वेन चिन्तयितुं अशक्यत्वात् भेदः।
भिन्नत्वेन चिन्तयितुं अशक्यत्वात् अभेदः। तौ च अचिन्त्यौ। इति

अपरे तु तर्काप्रतिष्ठानात् (ब्र.सू. 2.9.11) भेदेऽपि अभेदेऽपि निर्मयाद दोष संतति दर्शनेन भिन्नतया चिन्तयितुम् अशक्यत्वात् अभेदम् अपि साधयन्तः तद्वत् अभिन्नतया अपि चिन्तयितुं अशक्यत्वात् भेदम् अपि साधयन्तः अचिन्त्यं भेदाभेदवादं स्वीकुर्वन्ति।

स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदौ एव अचिन्त्यशक्तिमत्वात्। इति।
—परमात्म संदर्भीय (सर्व संवादिनी)—जीवगोस्वामी

तर्क अगोचरताके तीन हेतु निम्न हैं—

(क) शक्तिपरिणाम—जैसे मणि-मंत्र-औषधि।

(ख) अविकृत परिणाम—जैसे स्वर्ण-कटक-कुण्डल।

(ग) विरुद्धधर्माश्रयता—जैसे सन्निपात रोग की औषधि।

भक्ति से त्रिगुण प्रतिहत हो सकते हैं अतः परतत्त्व में अचिन्त्यशक्ति माननी पड़ेगी।

3. शक्तयः सर्वभावानां अचिन्त्य-ज्ञान गोचराः।
यतोऽतः ब्रह्मणः ताःतु सर्गाद्या भावशक्तयः।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ! पावकस्य यथोष्णता॥ -विष्णुपुराण

4. अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तान्स्तर्केण योजयेत्।

5. श्रीधर स्वामी टीका—सर्वेषां भावानां मणिमंत्रदीनां शक्तयः अचिन्त्यज्ञान गोचराः। 'अचिन्त्यं तर्कासहं'। यत् ज्ञानं कार्यान्यथा अनुपपत्ति प्रमाणकम्। तस्य गोचराः सन्ति। यद्वा अचिन्त्यं भिन्नाभिन्नत्वादि विकल्पैः चिन्तयितुं अशक्याः... भावशक्तयः स्वभावसिद्धाः। (श्रीभगवत् सन्दर्भ-जीव गो. प्रकरण 16 पृष्ठ—59)।

6. न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत् समः चाप्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया: च॥
—श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/8

7. स वा अयं अस्य सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः सर्वस्याधिपतिः।
बृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.22

पुष्टि सम्प्रदाये-अचिन्त्यं यथा—प्राकृतधार्मानाश्रय अप्राकृत निखिल धर्म रूपमिति। निगम प्रतिपाद्यं यत् शुद्धं साकृतिः स्तौमि॥

—सर्वोत्तम स्तोत्र 1

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाये—अचिन्त्यं यथा—स्वभावतोपास्त-समस्तदोष अशेष-कल्याणगुणैक राशिं व्यूही अंगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिं। नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादि वन्द्यात् भक्तेच्छया उपात्तसुचिन्त्यविग्रहात् विग्रहात्। अचिन्त्य शक्तेः अवचिन्त्य विग्रहात्॥

8. ययैव अचिन्त्यमायाया चिद्रूपता निर्विकारतादि गुण रहितस्य। प्रधानस्य जड़त्वं विकारित्वं च इति ज्ञेयं। अत्र अन्तरंगत्व-तटस्थत्व- बहिरंगत्वादिनैव तेषां एकात्मकानां तत् तत् साम्यं, न तु सर्वात्मना। इति तत्तत् स्थानीयत्वं एवं उक्तं न तु तद्रूपत्वम्। ततः तत्तद् दोषाः अपि नावकाशं लभन्ते॥ (भगवत् संदर्भ (जीव.गो.) प्रकरण 16 पृ. 67)।

9. अत्र प्रश्न—निर्गुणास्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः। कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणो-भ्युपगम्यते॥ (विष्णुपुराण 1.3.1)

10. प्रश्ने 'शुद्धस्य' इत्यत्र अदेहस्य इत्यपि व्याख्यातं। शुद्धत्वं हि अत्र केवलत्वं मतम्। ब्रह्मणि शक्तिरपि नास्ति इति गम्यते। निर्गुणस्य प्राकृत अप्राकृत गुण रहितस्य अतएव प्रमाणागोचरस्य। तत एव अमलात्मन शुद्धस्य नतु स्फटिकादेः इव परच्छायया अन्यथा दृष्टव्यः।

परिहारे—ब्रह्मणि कर्तृत्व-प्रतिपत्यर्थं शक्तयः साधिताः यथा जलादिषु कदाचित् उष्णतादिकं आगन्तुकं स्यात् तथा ब्रह्मणि न स्यात्। मणिमन्त्रादिभिः ब्रह्मशक्तयः नान्येन पराभूता इति एतत् च दर्शितम्। स्वरूपशक्तिप्रभाव- मात्रेण सर्गादिसाधकत्वादौ आवेश-अभावेन तद्दोष-अलेपश्च दर्शितः। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इति मायायाः तत् अनन्यत्वेऽपि 'निर्गुणस्य' इति प्राकृत गुणैः अस्पृष्टत्वम् अंगीकृत्य तेषां बहिरंगत्वं स्वीकृतम्। तस्मात् शक्तिमात्रस्य स्वाभाविकत्वं मायादोष अस्पृष्टत्वं च साधितम्।

—भगवत् सन्दर्भ प्रकरण 16 पृ. 58 से 63

11. तदेवं सर्वाभिः मिलित्वा चिदचित् शक्तिः भगवान्।

(भगवत् सन्दर्भ प्रक. 17 पृ. 68)

12. माया शब्दस्य नाज्ञानार्थत्वम्। तद्वादे सर्वमेव जीवादि-द्वैतम् अज्ञानेनैव स्वरूपे ब्रह्मणि कल्प्यते इति मतम्। निरहंकारस्य केनचित् धर्मान्तरेणापि रहितस्य, सर्वविलक्षणस्य चिन्मात्रस्य ब्रह्मणः न अज्ञानाश्रयत्वं, न च अज्ञानविषत्वं, न भ्रमहेतुत्वं सम्भवति इति। परम-अलौकिकवस्तुत्वात् अचिन्त्यशक्तित्वं तु सम्भवेत्। यत खलु चिन्तामण्यादौ अपि दृश्यते। यया शक्त्या त्रिदोषघ्न-औषधिवत् परस्परविरोधिनामादि धारिण्या निरवयवत्वादिके सावयवत्वादिकम् अंगीकृतम्।

—परमात्म सन्दर्भ प्रकरण 58 पृ. 100

13. तत्र द्वैतान्यथानुपपत्त्या अपि ब्रह्माणि अज्ञानादिकं कल्पयितुं न शक्यते असम्भवात् एव। ब्रह्मणि अचिन्त्यशक्ति सद्भावस्य युक्ति लब्धत्वात् श्रुतत्वाच्च (विचित्र शक्तिः पुरुषः

पुराणो न चान्येषां शक्तय: तादृशा: स्यु:।—श्वेताश्वतर उपनिषदादौ) द्वैतान्यथानुपपत्तिश्च दूरे गता। ततो अचिन्त्यशक्ति: एव द्वैत-उपपत्तौ कारणं पर्यवसीयते।

—परमात्म सन्दर्भ प्रकरण 58 पृ. 101

14. मीयेत विचित्रं निर्मीयते अनया इति विचित्रार्थकरवाचित्वं माया शब्दस्य। तस्मात् परमात्म-परिणाम एव शास्त्रसिद्धान्त:। तत्र अपरिणतस्यैव सत: अचिन्त्यशक्त्या परिणाम: इति। असौ सन्मात्रता-अवभासमान- स्वरूप: व्यूहरूप-द्रव्याख्य-शक्ति रूपेणैव परिणामेत, नतु स्वरूपेण इति गम्यते, यथैव चिन्तामणि:। अत: तन्मूलत्वात् न परमात्मन: उपादानता संप्रति- पत्तिभंग:।

—परमात्म सन्दर्भ-प्रकरण 58 पृ. 101

15. भगशब्दवाच्यानां षडैश्वर्याणाम् अपि चिन्मात्रत्वं एव। न तु सत्त्वादि गुण परिणायत्वं इति। भगवत्त्वं स्वरूपलक्षणं एव। भगवत्वस्य मायिकित्वात् तटस्थलक्षणत्वं इति व्याचक्षाणा भ्रान्ता: एव। "इन्द्रस्य मायेयं" इति-इन्द्रो मायया वृषभो भवति इत्युक्ते इन्द्रस्य वृषरूपत्वम् एव स्वमाया कृतं प्रतीयते, न तु इन्द्रत्वम्। यथा तथैव। 'भगवानेव मायया विश्वं भवति इत्युक्त्या भगवतो विश्वरूपत्वमेव मायिके स्यात्। न तु भगवत्त्वम् इति युक्तेश्च।

सारार्थदर्शिनी-विश्वनाथ चक्रवर्ती 6.7.2

16. यथोर्णनाभि: सृजत गृह्णते च, यथा पृथिव्यां ओषधय: संभवन्ति।
तथा सत: पुरुषात् केशलोमानि, तथा क्षरात् संभवतीह विश्वम्॥

—मुण्डक 1.1.7

तत: केवलस्य परमात्मन: निमित्तत्वं, शक्तिविशिष्टस्य उपादानत्वं इति उभयरूपतां एव मन्यन्ते। "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुरोधात्। ब्रह्मसूत्र 1.4.23) इत्यादौ।" तदेवं तस्य सदा शुद्धत्वं एव। तत्र शक्ते: शक्तिमत्- अव्यतिरेकात् अनन्यत्वम् उक्तम्। तथा सत्कार्यवाद-अंगीकारे स्वान्तस्थित- स्वधर्मविशेष-अभिव्यक्ति-लब्धविकासेन कारणस्यैव अंशेन कार्यत्वम्। कार्यस्य कारणात् अनन्यत्वम्। कारणस्य तु कार्यात् अन्यत्वं इति आयाति।

परमात्म सन्दर्भ प्रकरण 60 पृ. 110)

(श्रीपाद जीवगोस्वामी विरचित षड्सन्दर्भ प्रकाशित हैं और
श्रीहरिनाम प्रेस, वृन्दावन से उपलब्ध हैं)

• • •